भारत के जनजातीय समुदाय और स्वदेशी ज्ञान प्रणालियाँ

हेमंत मेनन

स्वदेशी ज्ञान प्रणालियाँ केवल पारम्परिक जानकारी का संग्रह नहीं बल्कि जीवित ज्ञान तंत्र हैं जिनमें समुदायों के प्रकृति, आजीविका, कृषि, संसाधन प्रबंधन और सांस्कृतिक जीवन से जुड़े दीर्घकालिक अनुभव समाहित होते हैं। इनका विकास औपचारिक संस्थानों में नहीं बल्कि पीढ़ियों के अनुभव, सामुदायिक परम्पराओं और स्थानीय जीवनानुभवों से हुआ है। भारत के जनजातीय समुदाय इन ज्ञान परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण संवाहक रहे हैं। इनके भीतर निहित ज्ञान केवल अतीत की विरासत नहीं बल्कि जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता संरक्षण और सतत विकास जैसी समकालीन चुनौतियों को समझने के लिए भी महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान करता है।

यह मान लेना कि जनजातीय समुदाय केवल इसलिए प्रकृति के संरक्षक हैं क्योंकि वे उसके निकट रहते हैं, आंशिक रूप से ही सही है। मात्र निकटता संरक्षण सुनिश्चित नहीं करती। इन समुदायों की वास्तविक पहचान उनके भूगोल में नहीं, बल्कि उनकी संस्कृति भूमि के साथ संबंधों को गीतों, अनुष्ठानों, शिल्प, ऋतु उत्सवों और आस्थाओं के माध्यम से व्यवस्थित करने वाली जीवन पद्धति में निहित है। 'संरक्षण' शब्द भले ही प्रशासनिक और नीतिगत शब्दावली में अपेक्षाकृत नया हो, लेकिन जिस व्यवहार और दृष्टि को यह व्यक्त करता है, वह भारत के जनजातीय अंचलों में सदियों से बिना किसी औपचारिक नाम और संस्थागत समर्थन के जीवित रही है।

जनजातीय समुदायों और प्रकृति के साथ उनके संबंधों को जितना गहराई से समझा जाता है, उतना ही उन्हें केवल 'प्राकृतिक संरक्षक' के रूप में देखना अपर्याप्त प्रतीत होता है।

लेखक नियमित रूप से कला एवं संस्कृति पर लिखते रहते हैं तथा SPICMACAY में राष्ट्रीय समन्वयक हैं। ईमेलः hemanth@spicmacay.com

समस्या यह नहीं कि यह धारणा गलत है बल्कि यह है कि ये अधूरी है। सदियों पुरानी ज्ञान परम्पराओं को केवल संरक्षण के दृष्टिकोण से समझना उन सांस्कृतिक तंत्रों को ओझल कर देता है, जिनसे ऐसे परिणाम उत्पन्न हुए। वास्तव में ये परम्पराएँ सबसे पहले संस्कृति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें जीवन में जिया जाता है और गीत, कथा, अनुष्ठान तथा शिल्प के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाया जाता है। यही कारण है कि ये ऐसे पारिस्थितिक परिणाम उत्पन्न करती हैं जिन्हें औपचारिक संरक्षण प्रयास अक्सर प्राप्त नहीं कर पाते।

भारत में 10.4 करोड़ से अधिक आदिवासी जनसंख्या 700 से अधिक विशिष्ट समुदायों के रूप में निवास करती है। इस विविधता को किसी एक निष्कर्ष में समेटना कठिन है, फिर भी एक साझा सूत्र स्पष्ट दिखाई देता है–इन समुदायों के लिए प्रकृति संस्कृति से अलग कोई सत्ता नहीं है। वह न केवल जीवन का आधार है बल्कि ज्ञान, सृजन, आस्था, उत्सव और सामूहिक स्मृति की आधारभूमि भी है। उनके गीत, अनुष्ठान और ऋतु-आधारित उत्सव पर्यावरणीय ज्ञान और सतत जीवन पद्धतियों के जीवंत स्रोत हैं। जनजातीय दृष्टि से पारिस्थितिकी संस्कृति का विषय नहीं बल्कि उसका स्वाभाविक परिणाम है।

स्मृति की पारिस्थितिकी

भारत के अधिकांश जनजातीय समुदायों की ज्ञान परम्पराएँ मौखिक और प्रदर्शनात्मक रही हैं। आधुनिक संस्थाएँ लिखित अभिलेखों और औपचारिक दस्तावेज़ीकरण को अधिक महत्त्व देती हैं इसलिए मौखिक परम्पराएँ कभी-कभी कम व्यवस्थित प्रतीत हो सकती हैं। लेकिन इन ज्ञान प्रणालियों की दीर्घकालिक निरंतरता एक अलग कहानी कहती है।

मौखिक परम्पराएं ज्ञान को कथा, संगीत, अनुष्ठान और सामूहिक स्मृति में इस प्रकार संजोती हैं कि वह पीढ़ियों तक जीवित बनी रहती हैं। जब कोई बुज़ुर्ग कई शामों तक सृष्टि-कथा सुनाता है या कोई सामुदायिक गीत जंगल के ऋतुचक्र का वर्णन करता है, तब नई पीढ़ी ऐसा ज्ञान आत्मसात करती है जिसे उस समुदाय ने कभी लिखित रूप में संचित नहीं किया। किसी स्वदेशी स्थानीय भाषा का लुप्त होना केवल भाषा का नहीं बल्कि उससे जुड़े पर्यावरणीय ज्ञान के विशाल भंडार का भी लोप है।

कर्नाटक की बिलिगिरिरंगना पहाड़ियों में रहने वाला सोलिगा समुदाय इसका स्पष्ट उदाहरण है। जंगल, जीव-जंतुओं की गतिविधियों, ऋतुचक्र और संसाधनों के संतुलित उपयोग के प्रति उनकी समझ पीढ़ियों से मौखिक परम्परा और लोकगीतों के माध्यम से आगे बढ़ती रही है। इस परम्परा के केंद्र में 'हुली वीरप्पा' (बाघ) है, जिसे पवित्र देवता तथा भगवान मादेश्वर के वाहन के रूप में आदर दिया जाता है। जो समुदाय अपने सर्वोच्च शिकारी को भय नही बल्कि श्रद्धा से देखता हो, उसे उसके संरक्षण के लिए अलग से कानून की आवश्यकता कम पड़ती है; सांस्कृतिक संबंध स्वयं आचरण को दिशा देते हैं।

जीवंत पाठ्यक्रम के रूप में 'उत्सव'

यदि मौखिक परम्परा ज्ञान का अभिलेखागार है, तो 'उत्सव' उसका पुनर्जीवन है। यही वह अवसर होता है जब किसी समुदाय का संचित अनुभव सामूहिक रूप से अभिव्यक्त और साझा होता है तथा किसी एक परिवार या पीढ़ी तक सीमित होकर समाप्त होने से बचता है।

भारत के जनजातीय कृषि-आधारित उत्सव इसी प्रकार कार्य करते हैं। वे केवल सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि फसलों और बीजों की विविधता को सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी हैं।

केरल का वायनाड सामुदायिक बीज उत्सव और तमिलनाडु की कोल्ली पहाड़ियों का बाजरा उत्सव पहली दृष्टि में सांस्कृतिक आयोजन लग सकते हैं, लेकिन वे ज्ञान के आदान-प्रदान के महत्त्वपूर्ण मंच भी हैं। अनेक जनजातीय समुदायों में महिलाएँ बीज संबंधी ज्ञान की संरक्षक होती हैं। इन अवसरों पर वे पारम्परिक फसल किस्मों का आदान-प्रदान करती हैं और पीढ़ियों से अर्जित अनुभव साझा करती हैं। ये बीज केवल कृषि सामग्री नहीं बल्कि मिट्टी, वर्षा, कीट प्रतिरोध और पोषण संबंधी ज्ञान के वाहक भी होते हैं।

टाइगर रिज़र्व के मुख्य क्षेत्र में सोलिगा समुदाय के अधिकारों को मान्यता मिलना उस व्यवस्था की संस्थागत स्वीकृति थी, जिसे उनकी संस्कृति लंबे समय से बनाए हुए थी। उनकी 'तरगु बेनकी' परम्परा–प्रारम्भिक मौसम में नियंत्रित रूप से वन अवशेषों में आग लगाने की पद्धति–भीषण ग्रीष्मकालीन आग को रोकने और देशज घासों की वृद्धि को बढ़ावा देने में सहायक रही।

ओडिशा की नियामगिरि पहाड़ियों में रहने वाला डोंगरिया कोंध समुदाय इसका एक और प्रभावशाली उदाहरण है। उनके लिए नियामगिरि केवल भूभाग नहीं बल्कि 'नियाम राजा' उनके सर्वोच्च आराध्य का स्वरूप है जो पर्वत, वन और जलधाराओं में उपस्थित हैं। इस भूदृश्य की रक्षा उनके लिए धार्मिक दायित्व भर नहीं, बल्कि भोजन उगाने और वन से संसाधन प्राप्त करने की जीवन पद्धति का आधार है। डोंगरिया समुदाय के खेतों में पारम्परिक मोटे अनाज, अरहर, कंद-मूल और ऋतु के अनुसार वन से प्राप्त खाद्य संसाधन साथ-साथ मौजूद रहते हैं।

जेरहुल के फूल और बहु-उपयोगी महुआ वृक्ष का उपयोग भी संयम के साथ किया जाता है,ऐसा संयम जिसे संस्कृति निर्देशित करती है और समुदाय सुनिश्चित करता है। भोजन उत्पादन और वन-आधारित संग्रह की यह आत्मनिर्भर व्यवस्था आज आधुनिक कृषि विज्ञान में जलवायु-अनुकूल खाद्य स्वायत्तता के प्रभावी उदाहरण के रूप में देखी जाती है। यह संकेत देती है कि कई बार प्रभावी जलवायु-अनुकूलन नीतियों से

नहीं बल्कि सांस्कृतिक आस्था और सामुदायिक जीवन पद्धति से विकसित होता है।

जब सृजन ही बन जाता है ज्ञान

कोई समुदाय जिन वस्तुओं का निर्माण करता है, वे केवल सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं होतीं। वे अपने परिवेश के साथ लंबे समय तक चले संवाद, व्यवहार, अनुष्ठानों और पीढ़ियों से संचित अनुभवों का परिणाम होती हैं। जनजातीय समाजों में यही संबंध ऐसी निर्माण दृष्टि को जन्म देता है, जिसे 'सहजीवी निर्माण कौशल' कहा जा सकता है अर्थात् आश्रय, उपकरण और संरचनाएँ प्रकृति पर नहीं बल्कि प्रकृति के साथ मिलकर इस प्रकार निर्मित करना कि पारिस्थितिकी तंत्र का संतुलन बना रहे।

नीलगिरि जैवमंडल क्षेत्र के टोडा समुदाय ने अपने पारम्परिक मेहराबदार आवास 'अर्श' बाँस, रतन और सूखी घास जैसी पुनरुत्पादित होने वाली प्राकृतिक सामग्री से निर्मित किए। इन संरचनाओं के लिए गहरी नींव की आवश्यकता नहीं होती थी और इनके निर्माण से घासभूमि पारिस्थितिकी तंत्र लगभग अप्रभावित रहता था। इन घरों के प्रवेशद्वार, जिनकी चौड़ाई मुश्किल से तीन फीट होती थी, पहाड़ी क्षेत्रों की ठंडी हवाओं और वन्य जीवों की उपस्थिति के अनुसार विकसित व्यावहारिक समाधान थे। यह वही धैर्यपूर्ण पर्यावरणीय समझ थी, जो टोडा जीवन पद्धति के अन्य पक्षों में भी दिखाई देती है। वास्तुकला से आगे बढ़कर उनकी प्रसिद्ध लाल, काली और सफेद पूथुकुली कढ़ाई भी इसी पर्यावरण का सांस्कृतिक प्रतिबिंब है। इसके रूपांकन स्थानीय वनस्पतियों से प्रेरित हैं जिनमें दुर्लभ कुरिंजी पुष्प भी शामिल है।

मेघालय के खासी और जैंतिया समुदायों ने सहजीवी निर्माण कौशल का संभवतः सबसे अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिंगकिएंग ज्री (Living Root Bridge) बनाया नहीं जाता,उसे उगाया जाता है। रबर फिग वृक्ष की वायवीय जड़ों को दशकों तक दिशा देकर और आपस में जोड़ते हुए ऐसी संरचना विकसित की जाती है, जो समय के साथ और अधिक मजबूत होती जाती हैं तथा पाँच सौ वर्षों तक टिक सकती हैं। एक पुल को उपयोगी बनने में लगभग पचास वर्ष लग सकते हैं; इसलिए संभव है कि उसे रोपने वाला व्यक्ति स्वयं कभी उस पर चल भी न सके।

यह स्थापत्य परम्परा दूरदर्शिता और पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायित्व की ऐसी संस्कृति को दर्शाती है, जिसमें व्यक्ति उन लोगों के लिए श्रम करता है जिनसे उसका कभी प्रत्यक्ष परिचय भी नहीं होगा।

उपचार परम्पराओं में निहित संरक्षण

जनजातीय समुदायों की पारम्परिक उपचार प्रणालियाँ सांस्कृतिक व्यवहार और पर्यावरण संरक्षण के गहरे संबंध को स्पष्ट करती हैं।

तमिलनाडु के नीलगिरि जैवमंडल क्षेत्र में रहने वाला इरुला समुदाय श्वसन संबंधी समस्याओं से लेकर यकृत विकारों तक के उपचार के लिए 70 से अधिक वनस्पति प्रजातियों का उपयोग करता है। यहाँ केवल औषधीय ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि संसाधनों के उपयोग की पद्धति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। जड़ों, छालों और पत्तियों का संग्रह इस प्रकार किया जाता है कि मूल पौधा जीवित बना रहे और पुनः विकसित हो सके। इरुला समुदाय वन की रक्षा इसलिए करता है क्योंकि उनकी उपचार परम्परा उसी पारिस्थितिकी तंत्र पर निर्भर करती है, जो उसे जीवित रखता है। यही सिद्धांत भारत के पवित्र उपवनों में भी दिखाई देता है जिन्हें मणिपुर में उमंगलाई, राजस्थान में ओरण, मध्य भारत में सरना और केरल में कावु कहा जाता है।

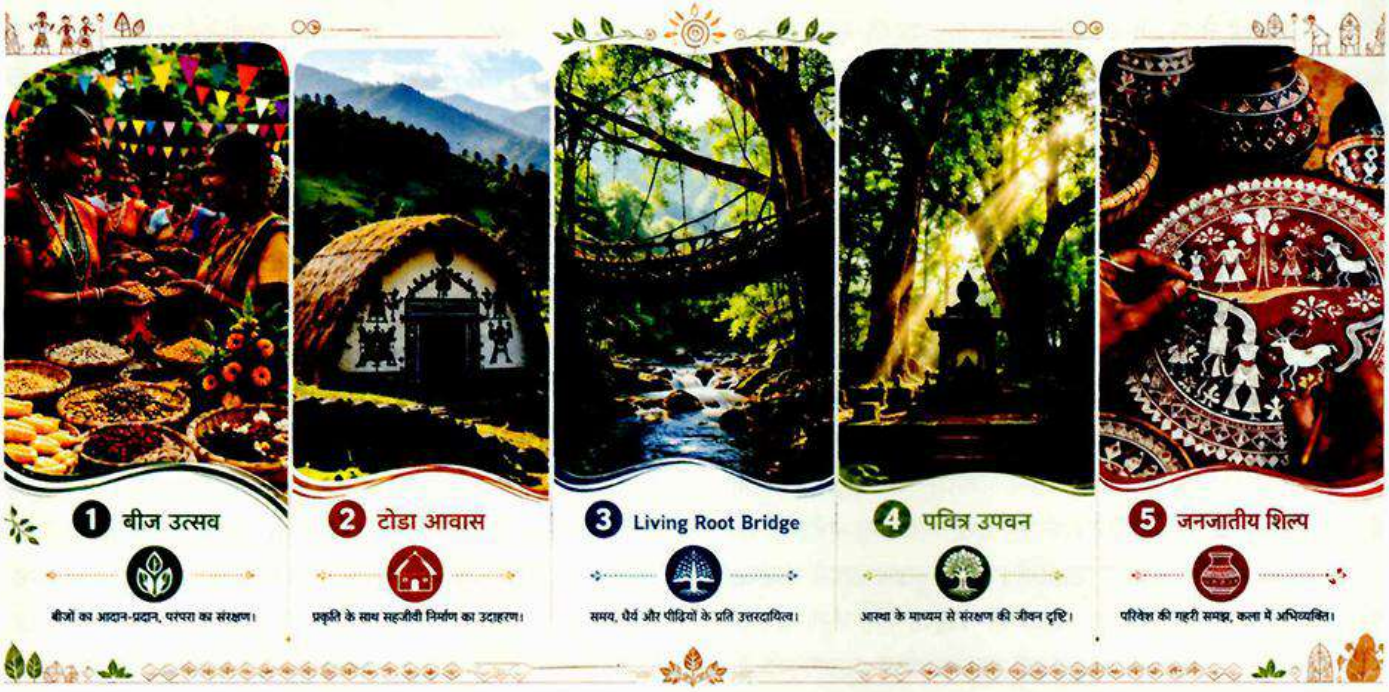

इन उपवनों ने ऐसी दुर्लभ और स्थान विशेष की वनस्पतियों को संरक्षित रखा है, जो आसपास के क्षेत्रों से बहुत पहले समाप्त हो चुकी हैं। इनका संरक्षण केवल कानूनी प्रावधानों से नहीं बल्कि सांस्कृतिक आस्था और सामुदायिक प्रतिबद्धता से संभव हुआ है - ऐसी प्रतिबद्धता जिसने औपचारिक संरक्षण प्रयासों से भी अधिक दीर्घकालिक स्थायित्व दिखाया है।

शास्त्रीय और स्वदेशी परम्पराएँः एक अनुकरणीय मॉडल

भारत की शास्त्रीय कला परम्पराओं को लंबे समय से संस्थागत समर्थन प्राप्त रहा है। इनके पास संहिताबद्ध ग्रंथ, स्थापित शिक्षण परम्पराएँ, प्रस्तुति मंच और संरक्षण के लिए संगठित तंत्र उपलब्ध हैं। यह स्थिति स्वतः नहीं बनी बल्कि निरंतर सांस्कृतिक प्रयासों का परिणाम है। इसी कारण आधुनिक चुनौतियों के बावजूद शास्त्रीय परम्पराओं के पास दृश्यता और संस्थागत समर्थन है जबकि अधिकांश जनजातीय परम्पराएँ अभी भी उससे वंचित हैं।

यहीं पर स्पिक मैके जैसे संगठनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जो अपने कार्यक्रमों के माध्यम से यह स्थापित करने का प्रयास कर रहा है कि जनजातीय परम्पराएँ भी उसी गंभीरता और सम्मान की अधिकारी हैं, जो शास्त्रीय परम्पराओं को प्राप्त है। मई 2026 में IIT खड़गपुर में आयोजित 11वें वार्षिक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में हज़ारों युवा प्रतिभागियों ने शास्त्रीय प्रस्तुतियों के साथ राज गोंड समुदाय के घुस्साड़ी, छऊ नृत्य की तीन शैलियों और त्रिपुरा के होजागिरी का अनुभव किया। शिल्प कार्यशालाओं में विद्यार्थियों ने गोंड चित्रकला और प्राकृतिक रेशों पर आधारित हथकरघा परम्पराओं को सीधे शिल्पगुरुओं से समझा। इन परम्पराओं में गहरी पर्यावरणीय समझ निहित है।

सम्मेलन का सबसे उल्लेखनीय पक्ष केवल प्रस्तुतियाँ नहीं थीं बल्कि कलाकारों और विद्यार्थियों के बीच हुआ संवाद था। जिन विद्यार्थियों ने पहली बार गोंड चित्रकला को निकट से देखा, वे रंगों, प्रतीकों और तकनीकों को समझने के लिए सत्र समाप्त होने के बाद भी कलाकारों से चर्चा करते रहे। इस अनुभव ने दिखाया कि जब किसी परम्परा को प्रत्यक्ष रूप से समझा जाता है, तो ज्ञान की स्थापित धारणाएँ कितनी जल्दी बदल सकती हैं। यही वह मॉडल है जिससे सीखने की आवश्यकता है।

जनजातीय और स्वदेशी ज्ञान प्रणालियों को कम समर्थन दिए जाने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। शास्त्रीय और स्वदेशी परम्पराओं के बीच सार्थक संवाद दोनों को समृद्ध बनाता है–शास्त्रीय परम्परा अपनी जड़ों से जुड़ती है और स्वदेशी परम्परा को उसकी गहराई के अनुरूप मंच और सम्मान प्राप्त होता है।

आज की चुनौतियाँः परम्परा और परिवर्तन के बीच

यद्यपि जनजातीय और स्वदेशी ज्ञान प्रणालियों की प्रासंगिकता आज पुनः स्वीकार की जा रही है, फिर भी इनके सामने अनेक गंभीर चुनौतियाँ मौजूद हैं। सबसे बड़ी चुनौती भाषायी ह्रास की है। अनेक जनजातीय भाषाएँ सीमित होती जा रही हैं और उनके साथ वे मौखिक ज्ञान परम्पराएँ भी कमजोर पड़ रही हैं, जिनमें स्थानीय पारिस्थितिकी, कृषि और उपचार संबंधी समझ निहित है।

इसके साथ ही बाज़ार आधारित उत्पादन प्रणालियों और एकरूपी कृषि मॉडल ने पारम्परिक फसलों, बीजों और संसाधन उपयोग की स्थानीय पद्धतियों पर दबाव बढ़ाया है। जलवायु परिवर्तन भी उन ऋतुचक्रों और पारिस्थितिक संकेतों को प्रभावित कर रहा है, जिन पर इन समुदायों का सांस्कृतिक और आजीविका संबंधी जीवन लंबे समय से आधारित रहा है।

एक अन्य चुनौती युवा पीढ़ी का अपने पारम्परिक ज्ञान स्रोतों से धीरे-धीरे दूर होना है। शिक्षा, रोजगार और बदलती जीवनशैली नए अवसर देती हैं, लेकिन पीढ़ियों के बीच ज्ञान हस्तांतरण को भी प्रभावित करती हैं। ऐसे में संरक्षण का अर्थ केवल परम्पराओं को संग्रहालयों में सुरक्षित रखना नहीं, बल्कि उन्हें समकालीन जीवन से जोड़कर जीवित बनाए रखना है।

संरक्षण से साझेदारी की ओर

भारत के जनजातीय समुदायों को जलवायु परिवर्तन और जैव विविधता के विमर्श में नए सिरे से पर्यावरण नायक के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टि पहले से ही उन सांस्कृतिक प्रणालियों में मौजूद है, जिन्हें उन्होंने पीढ़ियों से जीवित रखा है।

वह गीत जो जंगल के ऋतुचक्र को स्मृति में सुरक्षित रखता है; वह उत्सव जो बीजों की विविधता को बनाए रखता है; वह शिल्प जिसमें समुदाय अपने परिवेश की समझ दर्ज करता है; और वह पवित्र उपवन जो आस्था के माध्यम से संयम की जीवन-दृष्टि को बनाए रखता है–ये केवल सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं। यही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा प्रकृति के प्रति अर्जित समझ का निर्माण, संरक्षण और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण हुआ है।

इन परम्पराओं के संरक्षण के लिए उसी स्तर की संस्थागत गंभीरता और दीर्घकालिक प्रतिबद्धता की आवश्यकता है, जैसा भारत ने अपनी शास्त्रीय कला परम्पराओं के लिए प्रदर्शित किया है। साथ ही, इन्हें केवल सांस्कृतिक विरासत नहीं बल्कि ज्ञान और नीति के वैध स्रोत के रूप में भी स्वीकार करना होगा।

यदि भारत अपनी शास्त्रीय परम्पराओं की तरह ही जनजातीय ज्ञान परम्पराओं को समान गंभीरता औरदीर्घकालिक समर्थन देता है, तो यह केवल सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण का प्रयास नहीं होगा, बल्कि अधिक संतुलित, समावेशी और टिकाऊ भविष्य की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध होगा। ❑